

६

वित्तनीति



## सुभाषित

असम्भवं हेममृगस्य जन्म,  
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।  
प्रायः समापन्न-विपत्ति-काले,  
धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति ॥

सोने के हिरन का जन्म असम्भव है, फिर भी राम उसको पकड़ने के लोभ में उसके पीछे दौड़े। प्रायः जब विपत्ति का समय आता है, तब बड़े-बड़े लोगों की बुद्धि पर मलिनता छा जाती है।

## हाय बिचारा सोना!

सोना लाने पिव गये, जाने कहां बिदेस।  
सोना मिल्यो न पिव मिले, रूपा हो गए केस॥

राजस्थान की किसी विरहिणी की कैसी मार्मिक उक्ति है यह! उसके पति रोज़गार की तलाश में और सोना पाने की उम्मीद में विदेश गए थे। पता नहीं, किस किस पुराई भूमि में भटकते रहे। पर आज तक उस बिचारी को न तो सोना मिला ('सोना' का अर्थ यहां नौद भी लिया जा सकता है।) और न पिया मिले। इस बीच इस विरहिणी के प्रतीक्षा करते-करते केश चांदी हो गए, सफेद हो गए, सारी जवानी गुज़र गई और बुढ़ापा देह पर दस्तक देने लगा। इस विरहिणी के दर्द को सिवाय कवि के और कौन समझे!

कुछ आदमी की लाचारी, कुछ सोने का प्रलोभन। दोनों मिलकर आदमी को स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी दर-दर भटकने को बाधित करते हैं। आज भारत को बाहर जो एक दूसरा लघु-भारत बसा हुआ है, उसका क्या कारण है? यही तो। मारीशस, फीजी, गुयाना, ट्रिनीडाड आदि प्रदेशों में जो भारतीय बसे हुए हैं, वे भारत से वहां सोना लाने ही तो गए थे। पर कहां लौट सके?

सन् १८५७ की सैनिक राज्य-क्रान्ति को निर्ममतापूर्वक कुचल देने के पश्चात् अंग्रेजों ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिम बिहार के जिन गरीब लोगों को घसियारा बनाकर छोड़ दिया था, उनके पास और चारा ही क्या था? भूमि उनके पास थी नहीं, वह तो जमींदारों के पास थी, और कोई रोज़गार भी नहीं था। तब उन्होंने आकाओं ने ब्रिटिश उपनिवेशों में मज़दूरों की ज़रूरत पूरी करने के लिए इन गरीबों

को बहकाया कि समुद्र पार के इन टापुओं के जंगलों में और खेतों में सोना बिखरा पड़ा है, जितना चाहे झोली भर कर उठा लो, बस थोड़ी मेहनत करनी पड़ती है। इन गरीब मजदूरों को मेहनत से ऐतराज था नहीं। वह तो उनके जीवन का अंग थी। पर समुद्र पार जाना — धर्म भ्रष्ट नहीं होगा? तब अंग्रेजों के एजेन्टों ने उन गरीब, अनपढ़, पिछड़े तबके के लोगों से ५ साल के एग्रीमेंट के कागज़ पर अंगूठा लगवा कर समझाया — ५ साल की ही तो बात है, फिर तो खूब सारा सोना भरकर तुम वापिस अपने घर आ ही जाओगे। बिचारे गरीब लोग, भूखा क्या न करता। फिर सोने का प्रलोभन। चले गये, पर वे ५ साल कभी पूरे नहीं हुए। अंग्रेजों ने उन गिरमिटिये (जिनके पास एग्रीमेंट होने के कारण वे एग्रीमेंटिये या गिरमिटिये कहलाए) लोगों के साथ अपना वायदा कभी पूरा नहीं किया।

रही धर्म भ्रष्ट होने की बात। इन भारतीय मजदूरों से पहले जितने अफ्रीकी नीग्रो वहां लाये गए, या इन उपनिवेशों के जो मूल निवासी थे, वे सभी ईसाइयों के और सत्ता के दबदबे से ईसाई बन गए। पर ये भारतीय मजदूर ईसाई नहीं बने, क्योंकि उन्हें अपने धर्म और संस्कृति की गरिमा पर अटूट आस्था थी। अलबत्ता पौराणिक पंडितों ने तब भले ही कहा हो कि समुद्र-यात्रा पाप है, पर आर्यसमाज ने कहा कि नहीं, समुद्र-यात्रा पाप नहीं है। हमारे पूर्वज निरन्तर समुद्र पार के देशों की यात्रा करते रहे हैं और अपने व्यापार का तथा राज्य का विस्तार करते रहे हैं। उसी का परिणाम है कि आज इन प्रदेशों में आर्यसमाज का इतना प्रचार है।

बात सोने की हो रही थी, हम इतिहास को बीच में ले बैठे। क्या करें, सोने के नाम में ही इतना जादू है कि उसका नाम लेते ही आदमी का मन कहां का कहां भटकने लगता है। कहा है न —

**कनक-कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।**

**याहि खाये बौराय है, वाहि पाये बौराय।।**

पर हम तो नाम-जप में भी विश्वास करते हैं न। इसलिए सोना बिना पाये भी केवल नाम लेने मात्र से मन में मादकता छाने लगी। क्यों न हो, आज जब सारे देश में सोना-सोना का शोर मचा हुआ है, तब हम इतने बहरे तो नहीं हो गये हैं कि उसकी भनक हमारे कानों तक न पहुंचती। इस समय सारे देश में स्वर्णयुग आया हुआ है। जिधर देखो सोने की चर्चा है। पहले किसी समय शादी-ब्याह के मौके पर ही लोग सोने को याद करते थे। लड़के वाला लड़की वालों से पूछता था—“दहेज में कितना सोना चढ़ाओगे?” वही सोने के प्रलोभन वाली बात। पर प्रलोभन ही क्यों, वह तो मंगल-सूत्र के रूप में सुहाग का चिह्न

बन गया। बिना मंगल-सूत्र के विवाह कहाँ! तभी तो स्व० श्री राजीव गांधी के खासमखास श्री फोतेदार ने चन्द्रशेखर सरकार द्वारा सोना बेचने पर, (जिसे गिरवी रखना कहा गया), उसे कोसते हुए कहा था कि इस सरकार ने लाखों मां-बहनों के मंगल-सूत्र छीन कर उनका सुहाग विदेशों के हवाले कर दिया। पर जब इंका की सरकार आ गई तो उसने डंके की चोट पर चन्द्रशेखर से भी कई गुना ज्यादा सोना गिरवी रख दिया। बिचारे फोतेदार! अब कहाँ गया वह सुहाग-लुण्ठन-अभिशाप! अब सचमुच उनकी ज़बान का सुहाग लुट गया।

असल में, हमारी सरकार बड़ी निर्मोही है। जब से मण्डल का शोर मचा और उसने भारत भर के भूमण्डल को घेर लिया, तब कांग्रेस ने उसके जवाब में कमण्डल उठा लिया। अब उसने सचमुच वैराग्य धारण कर लिया—श्री नरसिंह राव विधुर हैं न! अब वैराग्य धारण न करें, तो क्या करें? अब उन्हें कामिनी-कांचन का लोभ विचलित नहीं कर सकता। चन्द्रशेखर ने तो २० टन सोना ही विदेश भेजा था, नरसिंहराव ने कुल ४७ टन सोना भेज दिया। पहले कहते थे कि हमारे पास जितना सोना रिज़र्व बैंक में है, उसमें से ४२ टन सोना हम नियमानुसार गिरवी रख सकते हैं। पर अब तो ४७ टन सोना बाहर चला गया। फिर ऊपर से यह भी धौंस कि ज़रूरत पड़ने पर हम और सोना भी बाहर भेजेंगे। कर लो क्या करोगे? संसार में कहीं और है इतनी निर्मोही सरकार? इतनी त्यागी-तपस्वी-मोहमाया-वियुक्त सरकार! आखिर कमण्डल की लाज रखनी है और विश्वमुद्रा-कोष से कर्ज़ लेना है। हमारे लिए सोना क्या है—निरा मिट्टी का ढेला है। फेंको बाहर, मारो उनके सिर पर जिन्हें हाथ सोना, हाथ सोना, की हाथ-हाथ लगी हुई है। सोना तो हाथ का मेल है, उसे रखकर क्या करेंगे? हमें तो डॉलर चाहिए, उसी से हाथ और 'हार्ट' दोनों पवित्र होते हैं, दोनों बलवान् बनते हैं। और यह डॉलर भी फिर हमारे नहीं हो जाएंगे—ये कर्ज़ के रूप में रहेंगे। यह कर्ज़ हमें फिर नाक घिस-घिस कर चुकाना पड़ेगा।

फिर यह नया कर्ज़ देश के सिर क्यों लाद रहे हो? इसलिए कि पिछला कर्ज़ चुकाना है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश तो फिर ठनठनगोपाल ही रहा। उसे मिला क्या? पिछला कर्ज़ चुकाने के लिए कर्ज़ लो, नया कर्ज़ लेने के लिए भी कर्ज़ लो। यह कर्ज़ है या मर्ज़ है? ऐसा मर्ज़, जो मरते दम तक मरीज़ का पीछा न छोड़े। कैसा विचित्र है यह आर्थिक संकट!

कहा जा रहा है—गिरवी रखा जाने वाला सोना वह है जो तस्करों से पकड़ा गया है। तो क्या वह नकली सोना है, और रिज़र्व बैंक में रखा सोना असली सोना है? यह तो सोने के पारखी जानें। हम तो केवल इतना जानते हैं कि आखिर तस्करों ने ही भारत की साख बचाई। अगर तस्करों की मेहरबानी

न होती तो क्या अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सरे-आम भारत की नाक कट कर न गिर जाती!

अब पता लगा कि तस्कर-सम्राटों की इतनी पूजा क्यों होती है। क्यों प्रत्येक राजनीतिक दल उनके कृपा-कटाक्ष के लिए सतत दण्डवत् करने की मुद्रा में खड़ा होने को तैयार रहता है। हे तस्करो! तुम्हारी जय हो। आखिर आड़े-वक्त तुम्हीं काम आए न! तुम से बढ़ कर देश-हितैषी और कौन हो सकता है? सरकार को सार्वजनिक रूप से तुम्हारा अभिनन्दन करना चाहिए, प्रच्छन्न रूप से नहीं। तुम से देश को भविष्य में बहुत आशाएं हैं। आखिर आतंकवादी भी तो तुम्हारे भरोसे ही जीते हैं। तुम न हो तो वे बिचारे बेमौत मर जाएं। एक बार नहीं, सौ-सौ बार तुम्हारी जय हो!

४ अगस्त १९६१



जिस प्रकार देश और राष्ट्र एक चीज़ नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्र और राज्य भी एक चीज़ नहीं है। राष्ट्र राज्य से ऊपर है। राष्ट्र ही राज्य का और राजनैतिक प्रणाली का निर्धारण करता है, इसलिए राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य राष्ट्र की और राष्ट्र के जन की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना सबके साथ न्याय करना है। अगर राष्ट्र का जन किसी राज्य को या राज्यप्रणाली को नहीं चाहता, तो उसके अस्तित्व का कोई वैधानिक अधिकार नहीं बनता। राज्य का मुख्य कार्य है—

**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्टताम्।**

जो राज्य सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश नहीं कर सकता, उसे राज्य कहलाने का अधिकार नहीं है। जिस तरह प्रजा का या राष्ट्र के जन का राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्य है, उसी तरह राज्य का भी प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य होता है।

मात्र स्वेच्छाचारिता राज्य का कर्त्तव्य नहीं है। कर्त्तव्यपूर्ति से ही राजा के या प्रजा के कुछ अधिकार बनते हैं। कर्त्तव्य नहीं, तो अधिकार भी नहीं। आज की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि अधिकार की बात सब करते हैं, कर्त्तव्य की बात कोई नहीं करता। राजा और प्रजा, दोनों राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों से बंधे हुए हैं। दोनों को अपने-आप से पूछना चाहिए कि मैंने राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कहां तक किया है?"

—‘चयनिका’, पृष्ठ २६४

## सुभाषित

उद्योगिनं पुरुष-सिंहमुपैति लक्ष्मीः  
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।  
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्म-शक्त्या  
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

—हितोपदेश

पुरुषों में सिंह के समान उद्योगी पुरुष को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है। भाग्य ही सब कुछ है—यह तो कायर लोग कहा करते हैं। भाग्य को लात मारकर अपनी पूरी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। यदि पूरा प्रयत्न करने पर भी कार्य में सफलता न मिले तो निराश होकर मत बैठ जाओ, प्रत्युत यह देखो कि हमारे प्रयत्न में क्या त्रुटि रह गई है।

## राष्ट्र-लक्ष्मी का आलोक-पर्व

दीपावली का पर्व राष्ट्र-लक्ष्मी का आलोक-पर्व हैं, पर हम उस राष्ट्र-लक्ष्मी का सही रूप कहाँ हृदयंगम कर पाते हैं? वेद का ही एक मंत्र है—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे

पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।

इष्णान्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण॥

विष्णु की स्तुति करते हुए भक्त कहता है—हे सर्वव्यापक प्रभो! श्री और लक्ष्मी आपकी दो पत्नियाँ हैं, जो दिन—रात आपके पार्श्व में रहती हैं। नक्षत्र आपके रूप को प्रतिबिम्बित करते हैं। द्युलोक और पृथ्वीलोक आपके विशाल बदन के समान हैं। मैं जिस सुख की कामना करता हूँ, वह मुझे प्रदान कीजिए और मेरे लिए सब लोकों के ऐश्वर्य का मार्ग प्रशस्त कीजिए।

बात को जिस आलंकारिक ढंग से इस मंत्र में कहा गया है, वह वेद के अजर—अमर काव्यत्व का प्रतीक है। वेद के काव्य की विशेषता उसके सुधी पाठक ही जानते हैं। सामान्यतया श्री और लक्ष्मी दोनों को पर्यायवाची माना जाता है। वेदोत्तर पौराणिक काल में जिस प्रकार मातृदेवी की पूजा चल पड़ी, उसमें परमात्मा के शक्ति और ऐश्वर्य रूप की अनेक प्रकार से कल्पना की गई। श्री को सरस्वती के रूप में ज्ञान की देवी स्वीकार किया गया, लक्ष्मी को धन की देवी के रूप में मान्यता मिली। वाममार्ग से उद्भूत तान्त्रिकों के युग में इसी के दुर्गा, चण्डी, काली

और चामुण्डेश्वरी आदि रूपों की सृष्टि हुई। सरस्वती को ज्ञान के देवता ब्रह्मा के साथ जोड़ा गया, लक्ष्मी को ऐश्वर्य के देवता विष्णु के साथ और दुर्गा को संहार के देवता महादेव के साथ। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन देवों को सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता और प्रलयकर्ता माना गया, जब कि वास्तव में वे एक ही परमात्मा की तीनों प्रकार की शक्तियाँ थीं। यह नितांत कल्पना—विलास और पौराणिक तथा साहित्यिक उड़ानमात्र थी। इसका वास्तविक तत्त्व तो ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में वर्णित कर ही दिया है। परन्तु मानव की रागात्मक वृत्ति इतने से कहां संतुष्ट होती है? वह जब तक कल्पना के घोड़े पर सवार होकर परीलोक की यात्रा नहीं कर लेता, तब तक उसका बाल-सुलभ मानस-शिशु संतुष्ट नहीं होता। भारतीय आध्यात्मिकता के इतिहास का अध्ययन करने वाले इस बात को भलीभाँति जानते हैं?

श्री और लक्ष्मी को विष्णु की पत्नियाँ बताने का अर्थ बहु-विवाह का समर्थन नहीं है। कभी भी कोई उपमा अपने चारों पैरों पर खड़ी नहीं होती। साहित्यिक रस की सृष्टिमात्र उसका प्रयोजन है। अन्यथा समस्त साहित्यिक शब्दावली समाप्त हो जाएगी और संसार रसहीन हो जाएगा। ऊपर के सुभाषित में जिस पुरुष-सिंह का वर्णन है, यदि उसकी अपनी वैज्ञानिक प्रयोगशाला में चीरफाड़ करने लगे तो क्या किसी पुरुष के सिंह के समान चार पैर, नुकीले लम्बे दांत और तीखे तथा शिकार का शिकार करने वाले नाखून सम्भव हैं? जब किसी को चंद्रमुखी कहकर उसके मुख की उपमा चंद्रमा से दी जाती है, तो अब चंद्रमा पर पहुंचकर वैज्ञानिकों ने उसके धरातल का जो रूप बताया है—ऊबड़ खाबड़, कंकर पाषाणप्रधान और जल-शून्य—क्या उस वर्णन को सुनकर किसी के मुख की चंद्रमा से उपमा देना उसका सरासर अपमान नहीं है? इसलिए उपमा और अलंकारों को उपमा और अलंकार ही रहने दीजिए।

जिस रसिक मन ने साहित्य के अलंकारों की सृष्टि की है, उसी मन ने साहित्य में ऐसे रूपक भी जड़ दिए हैं जो इन अलंकारों का भाव समझने में सहायक होते हैं। अब श्री और लक्ष्मी को ही लीजिए। श्री का वाहन है कमल, और लक्ष्मी का वाहन है उल्लू। कमल सूर्य का प्रकाश पाकर खिल उठता है। पंक में पैदा होकर और सदा जल में रहकर भी वह इन दोनों से अलिप्त रहता है। इसके अतिरिक्त उसका रूप उत्तेजक नहीं, सौम्य सौन्दर्य का आभास देता है। उसकी गंध भी ऐसी भीनी-भीनी होती है कि वह अपने रूप और गंध दोनों से मानव-मन में सात्विक भावों का ही उद्रेक करता है। इसीलिए भारतीय साहित्य और भारतीय कला दोनों में उसका इतना महत्त्व है। जब आप 'हृदय-कमल' शब्द का



प्रयोग करते हैं तो आप व्यक्ति के मन में कमल के इन्हीं अलिप्तता, सौंदर्य, उदारता और शिवत्व की भावना आदि गुणों को समाहित करना चाहते हैं।

श्री के साथ श्रम का भी सम्बन्ध है। अन्यथा कमल के साथ पंक का साहचर्य न होता। बिना श्रम के या केवल गरीबों का शोषण करके प्राप्त किया गया धन लक्ष्मी तो हो सकता है, श्री नहीं। लक्ष्मी का वाहन उल्लू दिन में नहीं देखता, वह रात में ही देखता है। इसीलिए उसका नाम 'दिवांध' है—अर्थात् दिन में अंधा। कमल सूर्य का प्रकाश पाकर खिल उठता है, उल्लू सूर्य के प्रकाश से डरता है। इसीलिए चोरी—डकैती और अवैध ढंग से धन की प्राप्ति के समस्त उपाय अंधकार के आवरण में ही अधिक होते हैं।

दीपावली के पर्व पर व्यापारी लोग अपने मकान, दुकान और बही खातों पर स्वास्तिक का चिह्न बनाकर 'शुभ लाभ' लिखते हैं। स्वास्तिक का चिह्न वास्तव में श्री का ही परिवर्तित रूप है। 'लाभ' के साथ 'शुभ' की संगति तभी तो हो सकती है।

पर हम राष्ट्र-लक्ष्मी के रूप में जिस विष्णु-पत्नी का उल्लेख करना चाहते हैं, उसके थोड़े स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। उसका संकेत—बीज हमें उस श्लोक से मिलता है जिसका उच्चारण आस्थावान् लोग प्रातःकाल उठने के बाद भूमि पर पांव रखने से पहले करते हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—

**समुद्रवसने देवि! पर्वतस्तनमण्डले**

**विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥**

समुद्र को वसन के रूप में और पर्वतों को स्तनमण्डल के रूप में धारण करने वाली हे विष्णु पत्नी! मैं तुझे नमन करता हूँ। यह विष्णुपत्नी भूमिमाता या भारतमाता के सिवाय और क्या हो सकती है? इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि विष्णु है राष्ट्र, और विष्णु पत्नी है देश अर्थात् भूमि या भूखंड जो चारों दिशाओं में फैला हुआ है।

यह भूमिमाता रत्नगर्भा है, वसुन्धरा है, अन्नपूर्णा है। इसी के खेतों में तरह-तरह के खाद्यान्न, वनों में वृक्ष, वनस्पतियां और औषधियां तथा उद्यानों में फल और फूल पैदा होते हैं। सोना, चांदी, लोहा, ताम्बा और न जाने कौन-कौन सी धातुएं इसी के गर्भ से निकलती हैं। 'ब्लैक गोल्ड' (काला सोना) कहलाने वाला कोयला और 'लिक्विड गोल्ड' (तरल सोना) कहलाने वाला पेट्रोलियम भी इसी की कोख से पैदा होता है। इस पेट्रोल का कितना महत्त्व है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उसके आयात के लिए हमें सोना गिरवी रखना पड़ता है। इसी पेट्रोल से अब तो ५०० के लगभग उपोत्पाद (बाई-प्रोडक्ट्स) तैयार होते हैं और पेट्रो-कैमिकल्स की विज्ञान में एक अलग शाखा ही बन गई है।

अन्त में इतना ही कहना है कि इस राष्ट्र-लक्ष्मी को पहचानो और इस राष्ट्र के निवासियों को पहचानो। भूमिमाता के साथ जब तक भूमिपुत्रों को नहीं जोड़ोगे, तब तक राष्ट्रलक्ष्मी का आलोकपर्व नहीं जगमगाएगा। तुम समझते हो कि विदेशों से कर्ज लेकर और भूमिपुत्रों की उपेक्षा करके देश को समृद्ध बना सकते हो? तुम शिकायत करते हो कि देश की इतनी अधिक आबादी ही देश की दरिद्रता का मूल कारण है। तुम यह नहीं सोचते कि जो मानवप्राणी एक मुँह लेकर पैदा होता है, वह दो हाथ लेकर भी पैदा होता है। इन ८४ करोड़ से दुगुने हाथों को रोजगार दो, बहुराष्ट्रीय निर्गमों की दासता में देश को मत जकड़ो और इस रत्न-गर्भा भारतमाता को आत्मपौरुष से देदीप्यमान करो। तब मनेगा सही रूप में राष्ट्रलक्ष्मी का आलोक-पर्व।

महाकवि ग़ालिब कह गये हैं—

**मुफ्त की पीते थे मय और समझते थे कि हां।**

**रंग लाएगी हमारी फाकामस्ती एक दिन।।**

अपनी फाकामस्ती के एक दिन रंग लाने की प्रतीक्षा करने वाले और कर्ज की मय पीकर खुश होने वाले राष्ट्र अपनी फाकामस्ती के अभिशाप से क्या कभी निकल सकेंगे?

३ नवम्बर १९६१



“विकास की जितनी योजनाएं बनीं और जितना भी धन व्यय हुआ, उसका यथोचित लाभ नहीं हो पाया। उसका कारण समझने के लिए योजना आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री हक्सर का यह कथन उद्धृत करना पर्याप्त होगा कि किसी गांव में एक बूंद पानी पहुंचाने के लिए ऊपर की टीपटाप में, स्टाफ और यातायात की व्यवस्था में कम-से-कम बारह हजार रुपये व्यय करना पड़ता है।

किसी भी विकास-कार्य पर खर्च किया गया धन कितना ठेकेदार और इंजीनियरों की जेब में पहुंचता है और कितना वस्तुतः विकास कार्य में या उसमें लगे मजदूरों पर खर्च होता है, इसका हिसाब कौन लगाए। ऊपर से सर्वशक्तिमान् राजसत्ता का प्रतिनिधि बड़ा अफसर, फिर छोटे अफसर, फिर अहलकार, फिर चपरासी, फिर अफसरों के चमचे और रिश्तेदार—ये सब कहां जाएंगे! जब भगवान् छप्पर फाड़कर देता है तो इन्हीं के आंगन सूखे क्यों रहें। हरेक को यह कहकर अपना घर भरने की छूट है—मोरे अंगना क्यों ना बरसे!”

—‘ओ मेरे राजहंस!’ पृष्ठ ६२

## सुभाषित

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा-  
ऽभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।  
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा  
हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः।।

— अथर्व ७/११५/२

जो लक्ष्मी पतन के मार्ग की ओर ले जाने वाली है, दुःखदायक और असेवनीय है, पर वृक्ष से लिपटी हुई लता की तरह मुझे घेरे हुए है, हे सविता देव ! उस मलिन लक्ष्मी को मुझसे दूर रखो ! मुझे तो वह वसु (धन) प्रदान करो जो मेरे लिए और समाज के लिए हितकारी हो, रमणीय हो और मुझे तमस् से हटाकर ज्योति की ओर ले जाए !

## हमारी आर्थिक दुर्दशा

एक ओर यह कहा जा रहा है कि हमारी आर्थिक दशा में सुधार हो रहा है और उसके संकेत मिलने प्रारम्भ हो गए हैं। तीन मास पूर्व नए वित्तमंत्री ने आर्थिक नीतियों के परिवर्तन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी उसके शुभ परिणाम दिखाई देने लगे हैं। केन्द्रीय सरकार भले ही सौ दिन में उपभोक्ता वस्तुओं के मूल्य कम करने के अपने चुनावी वायदे को पूरा न कर सकी हो, पर मुद्रा-स्फीति की बढ़ती हुई दर में कमी आई है और विदेशी मुद्रा के भण्डार में जो भंयकर कमी आ गई थी, वह सोना गिरवी रखकर और विदेशी ऋण लेने से सुधर गई है। मई-जून में यह विदेशी मुद्रा-कोष घटते-घटते केवल ढाई हजार करोड़ रह गया था, अब वह बढ़कर छः हजार करोड़ तक पहुंच गया है। सरकार को सत्ता संभालते ही सबसे अधिक परेशानी इस विदेशी मुद्रा-कोष की भंयकर गिरावट के कारण ही हुई थी और इसीलिए उसे ४५ टन से अधिक सोना गिरवी रखने को विवश होना पड़ा था। अब विदेशी मुद्रा की स्थिति में सुधार होने के कारण सरकार ४० करोड़ रु० अदा करके उस सोने को छुड़ाने की स्थिति में आ गई है। हालांकि वह सोना अभी भारत नहीं आया है और अभी विदेशी बैंकों में ही है, क्योंकि पता नहीं कब गिरवी रखना पड़ जाए। विदेशी मुद्रा को आकर्षित करने के लिए जो पुरानी नीतियां बदल कर नई सुविधाजनक नीतियां बनाई गई थीं और आप्रवासियों को अनेक रियायतें दी गई थीं, उनके भी शुभ परिणाम दिखाई देने लगे हैं। आयात में कमी

आई है, और निर्यात में वृद्धि होने लगी है। जिस उद्देश्य से रुपए का अवमूल्यन किया गया था वह सिद्ध हो रहा है।

पर यह समस्त आकलन एक-पक्षीय ही प्रतीत होता है। यह ठीक वैसा ही है जैसे दीपावली की अमावस्या की घनी अंधेरी रात में अपना छोटा-सा दीपक जलाकर हम यह समझें कि हमने अंधकार की गहन काली छाया सर्वथा समाप्त कर दी है। ऐसा शायद कोई शेखचिल्ली ही कह सकता है। क्योंकि सच्चाई कुछ और भी है।

और वह सच्चाई यह है कि भारत सरकार को एक और बड़ा कर्ज लेने के लिए अपने 'महाजनों' के द्वार खटखटाने के लिए विवश होना पड़ रहा है। यद्यपि इस खबर को अभी गोपनीय रखा जा रहा है, पर नारदीय वंश के पत्रकार तो खबरों को सूंघते फिरते हैं और उनकी 'तीसरी आंख' की बदौलत वह खबर भी गोपनीय नहीं रह पाती। यह नया ऋण किसी नए विकास कार्य के लिए नहीं, परन्तु एक पुराने कर्ज को चुकाने के लिए लिया जा रहा है, जो हमने सन् १९८१ में उस समय लिया था, जब अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में कच्चे तेल की कीमत लगभग तीन गुना बढ़ गई थी। तब भारत सरकार ने चार अरब उनतालीस करोड़ डालर का कर्ज अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से लिया था, जो मुद्राकोष से भारत को मिलने वाला सबसे बड़ा कर्ज था। १९८१ के इस कर्ज को चुकाने का समय नजदीक आ रहा है। नियमानुसार सन् १९९२ के फरवरी मास से इस कर्ज की अदायगी प्रारम्भ हो जानी चाहिए। उधर वित्तमंत्री ने यह चेतावनी दी है कि इस समय भारत का जो विदेशी मुद्राकोष ६ हजार करोड़ डालर तक पहुंचा है, उसमें कमी नहीं आनी चाहिए; अन्यथा फिर मई जून वाले संकट का सामना करना पड़ेगा। तो १९९१ के कर्ज को चुकाने के लिए पैसा कहां से आए? यदि यह अदायगी समय पर प्रारम्भ नहीं हुई, तो भारत की साख को वही झटका लगेगा जो अबसे कुछ महीने पहले लगा था और हमारे लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का द्वार भविष्य के लिए बन्द हो जाएगा।

यह ध्यान रखने की बात है कि हाल में ही भारत को जो सवा दो अरब डालर का कर्ज मिला है, उसके लिए हमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सब शर्तें माननी पड़ी हैं। वास्तव में हमारी हालत यह है कि हमारे ऊपर अब तक तीस अरब डालर (अर्थात् चालीस खरब रु०) का कर्ज चढ़ चुका है, जिसका अर्थ यह है कि अब भारत में पैदा होने वाला प्रत्येक बच्चा अपने जन्मदिन से ही पांच हजार रु० का कर्जदार होकर जन्म लेता है। इस कर्ज से उसका कोई वास्ता क्यों होना चाहिए? पिछले एक दशक में भारत पर जिस तरह विदेशी कर्जों का बोझ लादा गया है, उसका यही परिणाम होना था। अब जो सवा दो अरब डालर का कर्ज हाल में ही मिला है, वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के अध्यक्ष और प्रबन्ध-निदेशक माइकेल

कैमडैसस के स्वयं भारत आने पर और नाक रगड़ कर उनकी सब शर्तें मानने पर ही मिला है। उन शर्तों का पूरा खुलासा तो वित्तमंत्री ने संसद में करने का वचन दिया है, पर उनमें से एक शर्त यह भी है कि सन् १९८१ के कर्ज की अदायगी यथा-समय कर दी जाएगी। अर्थात् नया कर्ज लिये जाओ और पुराना कर्ज चुकाये जाओ। इससे कर्ज का जो नया भार बढ़ेगा, उसे दूर करने के लिए फिर और कर्ज, उस कर्ज को चुकाने के लिए फिर और कर्ज।

यह है हमारी आर्थिक स्थिति।

इस आर्थिक दुर्दशा पर आंसू तो बहाये जा सकते हैं, पर स्थिति की विडम्बना यह है कि हमारे पास इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है। कैसे विचित्र चक्रव्यूह में फंस गए हैं हम! क्या इस स्थिति से निकलने का कोई रास्ता नहीं है?

१७ नवम्बर १९९१



“अब भी देश में लाखों किसान और भूमिहीन मजदूर ऐसे हैं जो दो वक्त का भोजन नहीं जुटा पाते। लगभग ६ करोड़ किसान अर्धबेरोज़गारी के शिकार हैं। दो करोड़ लोग पूरी तरह बेरोज़गार हैं। एक करोड़ लोगों के नाम तो काम-दिलाऊ दफ्तरों में ही दर्ज हैं। और इन बेरोज़गारों में ३० लाख मैट्रिक पास हैं, दस लाख ग्रेजुएट या पोस्ट ग्रेजुएट हैं, और बीस हज़ार इंजीनियर हैं।

देश में खनिज द्रव्य भरे पड़े हैं, और वे अपने दोहन की प्रतीक्षा में हैं। गांवों में पेय-जल तक सुलभ नहीं, सिंचाई के साधन तो दर-किनार। सात लाख गांवों में ऐसे खुशनसीब गांव कितने हैं, जहां सड़क या बिजली पहुंची हो। नदियों की भी कमी नहीं, उनका तीन-चौथाई पानी बहकर समुद्र में चला जाता है, जो सिंचाई के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। देश में विपुल मात्रा में मानवीय श्रम उपलब्ध है। पर कितनी बड़ी विडम्बना है कि प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर और मानवीय श्रम से ओत-प्रोत होते हुए भी देश गरीब है और करोड़ों लोग बेरोज़गार हैं।”

-‘ओ मेरे राजहंस!’ पृष्ठ ६३

## सुभाषित

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतात्,  
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः संदह्यतां बह्मिना।  
शौर्यं वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं,  
येनैकेन विना गुणास्तुण-लवप्रायाः समस्ता इमे॥

— भर्तृहरि (नीतिशक)

हमारी जाति रसातल में चली जाए, अन्य जितने गुण हैं वे उससे भी नीचे चले जाएं! शील-सौजन्य पर्वतशिखर से गिरकर नष्ट हो जाए! जितने अभिजन परिजन हैं, उन सबको आग लगे! वीरता तो शत्रु सदृश है, उस पर गाज गिरे! हमको तो केवल अर्थ और धन ही चाहिए। क्योंकि उस एक के बिना ये सब चीजें एक-तिनके के टुकड़े के समान व्यर्थ हैं।

## हमारी आर्थिक दुरवस्था

दो बातों पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की जा रही है। हमने जो सोना गिरवी रखा था, उसे छुड़ाने की नौबत आ जाने पर, और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से बड़ी राशि का ऋण मिल जाने पर। पर ये दोनों खुशियां अन्दर से कितनी खोखली हैं, शायद यह बात सरकार भी जानती है; इसीलिए उसने गिरवी सोना छुड़ाने की नौबत पर कोई खास तूमर नहीं बांधा। उसमें तूमर बांधने की बात कोई होती तब न! पहले तो सोना गिरवी रखने की बात को श्री चन्द्रशेखर के प्रधानमंत्रित्वकाल में छिपाने का प्रयत्न किया गया। पर जब शिकारी कुत्तों की तरह खोजी और गन्धमात्र को सूँघकर शिकार को पहचानने वाले पत्रकारों की बदौलत वह बात छिपी न रह सकी, तब सरकार के पास उसे स्वीकार करने के सिवाय कोई चारा नहीं बचा।

दूसरे, अपने ही जिस सोने को हताशा की स्थिति में गिरवी रखने पर हमें विवश होना पड़ा था, उसे छुड़वाने की नौबत आ गई तो इसमें ढोल पीटने वाली बात तो कुछ थी नहीं। फिर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से हमें कर्ज मिल गया, इसमें भी कौन सी बड़ी बात थी? सोना गिरवी रख कर कर्ज प्राप्त करने की बातें परस्पर इतनी गुंथी हुई हैं कि उन्हें अलग करना मुश्किल है। हमने कर्ज किसलिए लिया? इसीलिए न कि पुराना कर्ज चुका सकें। जब वह कर्ज हमें सोना गिरवी रखने की शर्त पर मिल गया, तो स्वभावतः ही गिरवी सोना वापिस होना ही था। हमने

एक बड़ा कर्ज़ लेकर छोटा कर्ज़ चुका दिया, इसमें कौन—सा तीर मार लिया। पर दुःखद बात यह है कि यह कर्ज़ मिल जाने पर भी हममें स्वावलम्बन की ओर कोई रुझान पैदा हुआ हो, इसके दूर तक कहीं कोई लक्षण नहीं हैं। सरकारी खर्चों और अनुत्पादक व्ययों में कोई कटौती नहीं है। वही 'कर्ज़ की पीते थे मय' वाली मनोवृत्ति है। हमें फिर पेट्रोल और उर्वरक पर ही सबसे अधिक मुद्रा खर्च करनी पड़ेगी, जबकि इनकी खपत में कमी का कहीं कोई अभियान दिखाई नहीं देता।

कमी आप गुजरात की तरफ का दौरा करें तो देखेंगे कि जगह—जगह आग की लपटें निकल रही हैं, जो रेल में सफर करने वाले प्रत्येक यात्री को दूर से ही दिखाई देती हैं। कितनी गैस इस तरह व्यर्थ नष्ट हो जाती है, इस पर कमी किसी ने ध्यान दिया है? दूसरी तरफ गैस—कनेक्शन की प्रतीक्षा—सूची दिन—प्रतिदिन लम्बी होती जाती है। माना कि पेट्रोल तरल सोना है, पर उसकी प्राप्ति के लिए स्वदेश में कितना कम प्रयत्न किया जा रहा है, यह देखकर आश्चर्य होता है। मंत्रियों और सरकारी अफसरों को कर्ज़ में प्राप्त इतनी मंहगी विदेशी मुद्रा को खर्च कर उसका आयात करने के सिवाय और कोई मार्ग सूझता ही नहीं। कारण? कारण केवल एक—स्वावलम्बन के मार्ग की ओर बढ़ने पर इन सरकारी अफसरों को क्या मिलेगा? जबकि आयात करने पर कमीशन की गुंजाइश रहेगी। मौजमस्ती के लिए विदेशों के सरकारी खर्च पर दौरे झूंगें में। जितना बड़ा आर्डर, उतना ही बड़ा कमीशन! अब तो यह बात किसी से भी छिपी नहीं रही।

ध्यान देने की बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा—कोष से ऋण लेने के लिए हमें उसकी सभी शर्तें माननी पड़ी हैं। इसका गम्भीर और बहुत व्यापक अर्थ भी है, जिसकी ओर देशवासियों को ध्यान देना ही होगा। नहीं तो हमारी लुटिया बिना डूबे नहीं रहेगी। वह व्यापक अर्थ क्या है?

जब से सोवियत संघ महाशक्ति के पद से अपदस्थ हो गया और वहां कम्युनिज़्म का तम्बू उखड़ कर धराशायी हो गया, तबसे संसार की राजनीति के सारे समीकरण बदल गये हैं। अब अमरीका एकमात्र 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' रह गया है। अब स्वयं सोवियत संघ भी अपनी आर्थिक दुरवस्था के कारण अमरीकी पूंजीतंत्र के शिकंजे में है। अब तो अमरीका इस महा—अरण्य का एकमात्र वनराज केसरी है, और वह अकुतोभय होकर समस्त वन में स्वच्छन्दता—पूर्वक विचरण करने में स्वतंत्र है। अब उसे रोकने वाला कौन है? इसलिए अब तक जो देश उसके पूंजीतंत्र और साम्राज्यतंत्र के वंशवद नहीं थे, उनको भी वह उस लपेट में लेना चाहता है। भारत भी निर्गुट देशों का नेतृत्व करने के नाम पर एक 'तीसरी दुनिया' खड़ी करने के लिए प्रयत्नशील था। पर अब स्वयं भारत के दुर्दशाग्रस्त होने के कारण वह नीति भी बेदम हो गई है। अमरीका पहले अपने

पूँजीतंत्र में फँसाना चाहता है, और बाद में अपनी राजनीति के समीकरण वाले साम्राज्यतंत्र में।

कुछ लोग कहते हैं कि रूस के अफगानिस्तान से हट जाने के कारण अब अमरीका को पाकिस्तान की उतनी आवश्यकता नहीं रही। इसलिए भी वह भारत की तरफ उदारता का हाथ बढ़ा रहा है। पर इस बात में केवल आंशिक सच्चाई है। अब भी यदि भारत कमर कसके स्वावलम्बन के मार्ग पर चलने का संकल्प कर ले, तो उसके पास मानवीय श्रम और प्राकृतिक संसाधनों का इतना बाहुल्य है कि उसमें महाशक्ति और विश्वशक्ति बनने की पूरी क्षमता है। अमरीका यही नहीं चाहता। अमरीका नहीं चाहता कि भारत भी चीन के रास्ते पर चल कर महाशक्ति की क्षमता प्राप्त कर ले, इसलिए भारत को अस्थिर करने के लिए उसके पास एकमात्र पाकिस्तान ही हुकम का इक्का है। वह पाकिस्तान की बांह कभी नहीं छोड़ेगा, और अब तो पाकिस्तान भी अमरीका का पूरी तरह वशंवद बने रहने के बजाय नये राजनीतिक समीकरण बनाने की ओर अग्रसर है। उसका विस्तार से उल्लेख फिर कभी करेंगे।

हमने विदेशी पूँजी को आकृष्ट करने के लिए और निर्यात बढ़ाने तथा आयात घटाने के लिए जो तरह-तरह की रियायतें दी हैं, उनको भी बहुत सफलता मिलने की उम्मीद नहीं है। विदेशी पूँजीपति जिस तरह अपनी पूँजी का विनियोग करने के लिए चीन की ओर उन्मुख हैं, उस तरह भारत की ओर नहीं। कारण केवल यह है कि उन्हें विश्वास है कि चीन में आगामी दस वर्षों तक उसकी नीतियों में परिवर्तन नहीं होगा, जबकि भारत के बारे में वे पूरी तरह आश्वस्त नहीं हैं। भारत को पता नहीं, फिर कब समाजवाद का बुखार चढ़ जाए और विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करने के समस्त प्रयत्नों को देशद्रोह की कोटि में गिना जाने लगे। जिन अव्यावहारिक नीतियों के कारण देश की यह आर्थिक दुर्दशा हुई है, उसमें मुख्य कारण अपनी सरकार और अपनी कुर्सी बचाने के लिए अपनाई गई दोटों की राजनीति है, और उस स्थिति से अब भी देश उबराने नहीं है। यही कारण है कि आज किसी नेता की छाती में इतना दम नहीं है और न ही उसकी आवाज़ में इतना बल है कि वह खम ठोककर देशवासियों के सामने स्वावलम्बन की गुहार कर सके। देशवासियों को समझा सके—

**सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।**

जब तक दूसरों के वश में रहोगे, लगातार दुःख झेलोगे, जब अपने वश में रहोगे तो सुख में खेलोगे। है किसी में हिम्मत जो आज यह बात कह सके—‘ओ देशवासियों! हम रूखी-सूखी रोटी खाकर जी लेंगे, पर चुपड़ी रोटी के लिए विदेशों से कर्ज़ नहीं लेंगे।’ नहीं, किसी नेता में हिम्मत नहीं है। सन् १९६५ में



स्वर्गीय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री में यह हिम्मत थी। उन्होंने 'जय जवान और जय किसान' के नारे के साथ 'अनाज बचाओ' का आह्वान देश को दिया था और अधिकांश देशवासियों ने सप्ताह में एक समय भोजन न करके अनाज बचाना शुरू कर दिया था। इसी तरह जब उन्होंने सेना के लिए हथियार खरीदने को जनता से सोना देने की अपील की, तो लोगों ने धड़ाधड़ सोना देना प्रारम्भ कर दिया औरतों ने ज़ेवर उतार कर दे दिये थे। क्या वे सोना गिरवी नहीं रख सकते थे?

२४ नवम्बर १९६१



"जनता पार्टी के चुनावों के दौरान रोज़गार को नागरिक के मूल अधिकारों में शामिल करने की बात कही थी। जो सरकार अपने देश के नागरिकों को रोज़गार नहीं दे सकती, उसे उनके लिए बेरोज़गारी के भत्ते की व्यवस्था करनी पड़ेगी; अन्यथा उसे समाजवाद का नाम लेने का अधिकार नहीं। बेरोज़गारी के भत्ते की व्यवस्था केवल समाजवादी देशों में ही नहीं, तथाकथित पूंजीवादी देशों में भी है।

नई सरकार ने दस साल में देश से गरीबी दूर करने की बात कही है। बेरोज़गारी को बड़े पैमाने पर रोज़गार देने की अनेक योजनाओं पर विचार चल रहा है। न तो भारत कोई छोटा देश है, न ही उसकी जनसंख्या थोड़ी है, न ही यहां बेरोज़गारों की कमी है, उस दृष्टि से दस साल की अवधि कोई बड़ी नहीं कही जा सकती। 'दिवस जात नहीं लागहिं बारा।' पर इसके लिए जनता पार्टी की सरकार और जनता में जो उभयनिष्ठ तत्त्व है (जनता), उसके हित को प्रमुख और व्यक्ति के हित को गौण रखकर ईमानदारी से प्रयत्न करना होगा। आचार्य कौटिल्य का कहना है—

**प्रजा-सुखं सुखं राज्ञः**

**प्रजानां च हितै हितम्।**

**नात्मप्रियहितं राज्ञः**

**प्रजानां तु प्रियं हितम्॥**

—प्रजा का सुख ही राजा का सुख है, और प्रजा के हित में ही राजा का हित है। राजा को भी अपना हित प्रिय नहीं होना चाहिए, प्रजा का ही हित प्रिय होना चाहिए।"

—'ओ मेरे राजहंस!' पृष्ठ ६४

## सुभाषित

जब राजा राजकाज की उपेक्षा करता है तो वह 'कलियुग' होता है। जब वह साधारण रूप से कामकाज करता है तब 'द्वापर' कहलाता है। जब राजा सदा राज्य और प्रजा के हित में लगा रहता है तब 'त्रेतायुग' कहलाता है। और जब राजा सभी कार्यों को तत्परतापूर्वक करते हुए अपनी प्रजा के सुख-दुख में सम्मिलित होता है तब वह 'सतयुग' कहलाता है। वस्तुतः राजा ही युग बनाता है। इस प्रकार राजा युग-निर्माता कहा जाता है।

- मनुस्मृति

## फगुनाहट की यह कैसी आहट !

वैसे तो वसन्त-पंचमी के आगमन के साथ ही बसन्त के आगमन की सूचना मिल जाती है, पर आजकल जिस तरह मौसम में परिवर्तन होता चला आ रहा है, उसके कारण माघ मास में पड़ने वाली वसन्त-पंचमी भी शीत लहर के असर से दूर नहीं हो पाती। इसलिए 'आया बसन्त, पाला उड़न्त' वाली कहावत चरितार्थ नहीं हो पाती। पर अब तो फागुन का महीना द्वार पर दस्तक दे रहा है। इसलिए चारों तरफ फगुनाहट की गंध है।

कवियों ने वसन्त-ऋतु का वर्णन अपने-अपने ढंग से किया है, और अपनी लेखनी का चमत्कार भी दिखाया है। स्वयं महाकवि कालिदास ने कहा है — सर्व प्रिये चारुतरं वसन्ते— वसन्त में तो हरेक चीज ही खूब अच्छी लगने लगती है। परन्तु 'गालिब का तो है अन्दाजे-बयां और'। उसने अपने एक शेर में ही ऐसा जादू भर दिया कि उससे राजनीति का चतुर खिलाड़ी जवाहरलाल नेहरू भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। कभी नेहरू द्वारा अपने हस्तलेख में देवनागरी में लिखा हुआ वह शेर, त्रिमूर्ति-भवन की प्रदर्शनी में रखा हुआ कई वर्ष पहले हमने स्वयं अपनी आंखों से देखा है। पता नहीं अब भी वह वहाँ है या नहीं। शेर इस प्रकार था —

फिर इस अन्दाज़ से बहार आई।

हुए मेहरों-माह तमासाई।।

—फिर बहार (वसन्त) इस ढंग से आई कि सूर्य और चन्द्र भी उसको देखने के लिए दर्शक बन कर घर से निकल पड़े। जिसके सौन्दर्य को देखने के लिए सूर्य और चन्द्र भी उत्सुक हो उठें, ऐसा वैभव सिवाय बसन्त के और कहाँ मिलेगा ?

जब प्रकृति स्वयं उल्लास में इतनी निमग्न हो कि चारों तरफ हरियाली और तरह-तरह के रंग-बिरंगे फूलों की बहार आ रही हो और खेतों में सरसों के पौधे 'मेरा रंग दे वसन्ती चोला' का पूरा बाना धारण किये लदे खड़े हों, तो प्रकृति के इस पर्यावरण से मानव कैसे अलग रह सकता है? आखिर मनुष्य भी तो प्रकृति का अंग है न ! इसलिए किसी भी प्रदेश के प्राकृतिक पर्यावरण का उस प्रदेश के निवासियों के खान-पान पर, रहन-सहन पर, शील-स्वभाव पर, और तो और स्थापत्य और कला पर भी जैसा असर दिखाई देता है, उसी कारण स्वयं प्रकृति शब्द का एक अर्थ ही 'स्वभाव' पड़ गया है। मराठी भाषा में इसीलिए 'प्रकृति' शब्द मनुष्य के स्वभाव, स्वास्थ्य और तबियत का पर्यायवाची बन गया है।

पर इस बार फगुनाहट की यह कैसी आहट है कि देशवासियों के चेहरों पर जहां कहीं-कहीं वसन्त के उल्लास की रेखाएं दिखाई देती हैं, वहाँ चिन्ता की लहरें कहीं ज्यादा साफ़ और गहरी नज़र आती हैं। महंगाई की भार से आम जनता इतनी त्रस्त है कि उसके लिए जीवनोपयोगी वस्तुएं जुटा पाना भी मुश्किल हो गया है। हमारे राजनीतिक नेता-गण रेलवे-बजट और वार्षिक-बजट लोकसभा में पेश करके तरह-तरह के सुनहरे आश्वासन तो देते हैं, पर उन पर पूरी तरह किसी को विश्वास नहीं होता। राजनीति, राजनीति के स्थान पर रहे, तो रहे, परन्तु आम आदमी को अपना दैनिक जीवन गुज़ारना भी दूभर हो जाय, तो उसके लिए राजनीतिज्ञों के सारे आश्वासन खोखले साबित होते हैं। फिर उसके लिए कैसा वसन्त और कैसी बहार ?

पर जीवन की गाड़ी तो किसी न किसी प्रकार धकेलनी ही है और अपनी परम्पराओं का पालन भी करना ही है। इसलिए इस वातावरण में भी कुम्भकोणम् और उज्जैन के सिंहस्थ मेले पर भीड़ में कहीं कमी दिखाई नहीं देती। इन मेलों में भीड़ के कारण होने वाली आपदा की त्रासदी इसलिए और बढ़ जाती है कि वी०आई०पी० लोग भी तमाशाई बन कर, या पुण्य-पर्व पर स्नान करके मोक्ष-प्राप्ति का सहज सुलभ पुण्य प्राप्त करने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं, तो सारी पुलिस और मेले के लिए किया गया सारा प्रबन्ध तथा तामझाम उन्हीं वी०आई०पी० महापुरुषों की रक्षा में जुट जाने से सैंकड़ों लोग भीड़ में कुचल कर अनचाहा मोक्ष प्राप्त करने को विवश हो जाते हैं।

यह तो हमने त्रासदी का एक छोटा-सा उदाहरण ही दिया है। पर जब नये वर्ष का परिदृश्य सामने आता है तो आशा की सुनहरी किरण और धुंधली पड़ती जाती है। आखिर हमारा देश जो कभी 'सोने की चिड़िया' कहलाता था, वह इतने विदेशी कर्ज-भार से कैसे दब गया कि उसकी सारी आर्थिक स्थिरता चरमरा गई। ऐसा कौनसा देश है जिसके हम कर्जदार न हों? हमारी दयनीय स्थिति का इससे

बढ़कर चित्र और क्या हो सकता है कि हमें अपने कर्ज चुकाने के लिए विश्व-बैंक और विदेशियों के बहु-राष्ट्रीय निगमों के इशारों पर नाचना पड़े। हमारे देसी उद्योग धीरे-धीरे क्यों बंद होते चले गए। और हम पाश्चात्य उपभोक्तावादी संस्कृति के गुलाम क्यों होते चले गए? यदि सन् १९८०-८१ में अपनाई गई उदार आर्थिक नीति के कारण देश की आर्थिक स्थिति इतनी जर्जर हो गई तो यह कैसे मान लें कि नई उदार आर्थिक नीति से देश की आर्थिक व्यवस्था सुधर जाएगी? यदि विदेशी ऋण और विदेशी व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को खुली छूट देने से ही अर्थ-व्यवस्था सुधर सकती, तो ब्राज़ील और मैक्सिको जैसे देश दिवालिये न होते। सच तो यह है कि हमने राजनैतिक आज़ादी तो प्राप्त कर ली, परन्तु हमने अपनी आर्थिक आज़ादी गैरों के यहाँ गिरवी रख दी। इसमें सबसे अधिक दोष हम अपने राजनीतिज्ञों को ही देंगे, जिन्होंने भारत को भारत न रहने देकर 'इण्डिया' बनाने का स्वप्न संजोया और सत्ता की दौड़ में निरंतर नीतिविहीन राजनीति का आश्रय लेते चले गये। अब हमारे राजनीतिक दलों ने राष्ट्र-हित को भुलाकर दलीय स्वार्थों की राजनीति अपनाई है, वह केवल गुण्डागिरी का पर्याय बन कर रह गई है, जिसका परिणाम आंतकवाद और विघटनवाद के रूप में विस्फोट पा रहा है।

हम आर्थिक नीति के उदारीकरण का विरोध नहीं करते। उसके अपने लाभ हैं। जैसे, भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता को बढ़ावा देने वाले 'परमिट और कन्ट्रोल-राज' की समाप्ति से लोगों को अपनी मौलिक प्रतिभा से देश की समृद्धि में योगदान का अवसर प्राप्त होगा। परन्तु यह उदारीकरण काफी पहले हो जाना चाहिए था। हमारी अर्थ-व्यवस्था का मूल लक्ष्य तो जन-साधारण की आर्थिक अवस्था को सुधारना और उसके लिए जनता की श्रम-शक्ति का उपयोग करके बढ़ती हुई बेरोज़गारी को रोकना होना चाहिए था। परन्तु उदारीकरण की जिस नीति के द्वारा हमने विदेशियों के द्वारा शोषण का और खुली स्पर्धा का द्वार खोल दिया है, वह भारत जैसे गरीब देश की विकासशील अर्थ-व्यवस्था के लिए उचित नहीं है। विदेशी निगमों के साथ प्रतिस्पर्धा की बात उतनी ही बेतुकी है जितनी कि एक बैलगाड़ी और जैट विमान के बीच में दौड़ का आयोजन करना। कौन समझदार व्यक्ति यह मानेगा कि बैलगाड़ी हवाई जहाज़ जितनी तेज़ चल सकती है? इसके लिए तो गाँधी का चरखा ही देश को स्वावलम्बी बनाने में सहायक हो सकता था। पर हमने अब उस चरखे के स्थान पर विदेशी उद्योगपतियों की तलवार देश के सिर पर तान दी है।

पिछले दिनों अमरीकी राष्ट्रपति बुश बड़े-बड़े व्यापारियों को साथ लेकर इस आशा से जापान गये थे कि उस पर अमरीका से चावल तथा अन्य साजो-सामान खरीदने के लिए दबाव डाला जा सके। परन्तु जापानियों ने जिस कटाक्ष और

आक्रोश के साथ इस पेशकश को ठुकरा दिया, उससे बुश को ऐसा झटका लगा कि वे अचानक अर्द्ध-मूर्छित से हो गये। जब जापान जैसा उन्नत देश अपने देशवासियों के हित का इतना ध्यान रख सकता है, तो हमारे राजनीतिज्ञ नेताओं को ऐसी बात क्यों नहीं सूझती ? इसके विपरीत हमारी लाचारी देखिए कि हमें अमरीकी शर्तों पर, उन्हीं के द्वारा निर्धारित मूल्यों पर दस लाख टन गेहूं आयात करने का वचन देना पड़ा, जबकि हम स्वयं आठ लाख टन गेहूं उससे काफी कम मूल्य पर विदेशों को निर्यात करने का फैसला कर चुके थे।

इसका एक मूल कारण यह भी है कि प्रत्येक क्षेत्र में इन नीतियों के कारण हमारे उत्पादनों में कमी आई है। जब से हमने विदेशी मुद्रा के प्रलोभन में चावल, फल तथा सब्जियों एवं सामुद्रिक उत्पाद का बड़ी मात्रा में निर्यात किया है, तब से खाद्यान्नों में, सब्जियों में तथा खाद्य-तेलों की कीमतों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है जिससे आम जनता का कष्ट घटने के बजाय और बढ़ा ही है। जब तक हम अपने संसाधनों, अपने श्रम और अपनी जनता के अधिकतम हित की दृष्टि से पुनः स्वदेशी-आंदोलन की बांह नहीं गहेंगे, तब तक फगुनाहट की इस आहट में जन-जीवन की त्रासदी छाई रहेगी।

१५ मार्च १९६२



हिन्दी और संस्कृत के कवि कोयल पर इतने लट्ठू हो गए कि न जाने कितनी अन्योक्तियां उसी को लेकर लिखी गईं। वसन्त आ जाए और कोयल की कुहू के स्थान पर कौओं की कांव-कांव सुनाई देने लगे, तो संस्कृत का कवि कहेगा ही—

रे रे कोकिल या भज भौनं किंचिदुच्चरय पंचमरागम्।

नो चित्त्वामिह को जानीते काक कटम्बकापिहते वृक्षे॥

—‘अरी कोयलिया! तू चुप कैसे बैठी है? कुछ तो बोल। अपना पंचम राग सुना नहीं तो तुझे कौन जान पाएगा? इस आम के पेड़ पर चारों ओर कौए ही कौए बैठे हैं। तू चुप रही तो लोग तुझे कौआ ही समझेंगे।’ हिन्दी के कवि जब कहते हैं—‘कवि! कुछ ऐसी तान सुनाओ’, तो कवि के बहाने से वे कोयल को ही सम्बोधित करते हैं। सारांश — कोयल भारत के कवियों का प्राण है।

—‘राष्ट्रीय पत्रकारिता के पुरोध’, पृष्ठ २०६  
(पण्डितजी के लिखे एक व्यंग्य लेख से उद्धृत)

## सुभाषित

विदेशी ताकतों द्वारा भारत के शोषण के विरोध के राष्ट्रीय और वैश्विक, दोनों ही पक्ष हैं। राष्ट्रीय आयाम यह है कि भारत को पर्याप्त अन्न, मकान और दूसरी प्राथमिक जरूरतों की पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन चाहिए, ताकि यह देश और इस देश के लोग अपना विकास भली भांति कर सकें। वैश्विक पक्ष यह है कि भारत का पूरी मनुष्यता से एक वायदा है, और वह है अध्यात्म के आधार पर नई व्यवस्था प्रस्तुत करना। यह आध्यात्मिक आधार समाजशास्त्रियों और राजनीति के पंडितों को नये क्षितिज पर लाएगा।

वर्तमान राष्ट्रीय आंदोलन में आर्थिक कार्यक्रमों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन हमें ध्यान रखना होगा कि यह आंदोलन कहीं विपथगामी न हो जाए। यह आंदोलन भारत की आत्मा के अनुरूप यहां के जीवन, इतिहास और संस्कृति की आत्मा के अनुरूप होना चाहिए।

— श्री अरविंद द्वारा संपादित 'बंदे मातरम्' पत्रिका के  
११ जून १९०८ अंक में प्रकाशित 'स्वदेशी' लेख से

## स्वदेशी जागरण का मूलमंत्र

स्वदेशी जागरण के मूलमंत्र—दाता के रूप में जो स्थान ऋषि दयानन्द का है, वह स्थान आधुनिक युग में संभवतः अन्य किसी व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। संक्षेप में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि स्वदेशी, स्वधर्म, स्वसंस्कृति, स्वभाषा और स्वराज्य में 'स्व' पर जितना जोर उन्होंने दिया है, उतना अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं। इसलिए उनको भारतीय अस्मिता का प्रतीक कहा जा सकता है। 'स्व' और 'देश' को जिस रूप में ऋषि दयानन्द ने पहचाना है, उस रूप में अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं। आधुनिक युग के जिन राष्ट्रीय महापुरुषों ने स्वदेशी आंदोलन पर जोर दिया है, वह एक तरह से ऋषि दयानन्द द्वारा तैयार की गई भूमिका का ही व्यावहारिक रूप है। विशेष रूप से राष्ट्रपिता के रूप में संबोधित महात्मा गांधी ने देश की आजादी के लिए जिस स्वदेशी आंदोलन की बागडोर पकड़ी, उसकी आधार-भूमि ऋषि दयानन्द उनसे पहले ही तैयार कर चुके थे।

आजकल देश की आर्थिक दुर्दशा के कारण जो नई अर्थव्यवस्था लागू की जा रही है, और जिस तरह अमरीका हमारी विवशता का लाभ उठा कर हमारी बांह मरोड़ते हुए हमको अपना वशंवद बनाने पर उतारू है, उसके कारण देश के

बुद्धिजीवियों में काफी उथल-पुथल मची हुई है। सरकार कहती है कि हमारे पास इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है और अन्य राजनैतिक दल दलीय राजनीति के खिलाड़ी के रूप में 'देश बचाओ' और 'आजादी बचाओ' का नारा लगा रहे हैं। परन्तु वामपंथी और राष्ट्रीय मोर्चे का यह आंदोलन अन्दर से कितना खोखला है, उसका केवल एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। जब मुलायम सिंह यादव 'आजादी बचाओ' का नारा लगाते हैं, तो उनकी दृष्टि में इस नारे का केवल एक ही अर्थ है, और वह है किसी न किसी तरह उत्तर प्रदेश में से भारतीय जनता पार्टी के शासन को समाप्त करना।

परन्तु इस संबंध में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विचारशील नेताओं ने देश की बदलती हुई परिस्थितियों में जिस प्रकार स्वदेशी-जागरण का शंख बजाने का निश्चय किया है, उसे गंभीरता से ग्रहण किया जा सकता है। गंभीरता से इसलिए कि उन्होंने इसे दलीय स्तर पर नहीं, बल्कि समस्त दलों के सहयोग से चलाने का निश्चय किया है। इसी कारण पूर्व प्रधानमंत्री श्री चन्द्रशेखर जैसे कट्टर समाजवादी नेता भी संघ के इस आह्वान पर फ़िदा हैं। संघ के पास निष्ठावान् कार्यकर्त्ताओं का विशाल समुदाय है और इस दिशा में वे ईमानदारी से कार्यशील होते हैं तो हमें लगता है कि वे देश के नैतिक वातावरण में एक नया परिवर्तन ला सकते हैं। हालांकि यह बहुत कठिन कार्य है, परन्तु हमने ऊपर जो ईमानदारी की बात कही है, यदि उसका ध्यान रखा जाय तो यह एकदम असंभव भी नहीं है। क्योंकि यह देश की उस आत्मा का उद्बोधन है, जो आजादी के बाद से उपभोक्तावादी संस्कृति के चक्कर में पड़कर प्रसुप्त हो गयी है; परन्तु जिस आत्मा में जागरण की प्रच्छन्न अभिलाषा कहीं न कहीं विद्यमान है। यदि ऐसा संभव हो सका तो हम इसे ऋषि दयानन्द के विचारों की केवल पुनः-प्रासंगिकता ही नहीं, प्रत्युत बहुत बड़ी विजय मानेंगे।

ऊपर हमने सुभाषित के रूप में योगिराज अरविंद घोष के जिस लेख का एक लघु अंश दिया है, उसी लेख में भारत की आत्मा का उद्बोधन करते हुए वे कहते हैं—

“स्वदेशी सिर्फ आर्थिक आन्दोलन ही नहीं है, हालांकि इस आंदोलन में देश का अपना आर्थिक ढांचा नये सिरे से गढ़ने की क्षमता है। यह कोई राजनीतिक आन्दोलन भी नहीं है हालांकि इसमें राजनीतिक स्वतंत्रता का तुमुल घोष है। वस्तुतः आत्यन्तिक रूप से यह एक आध्यात्मिक आन्दोलन है, जिसमें न केवल आर्थिक विकास और राजनीतिक स्वतंत्रता के उद्देश्य समाहित हैं, बल्कि हम इसमें भारतीय चेतना के सभी पक्षों को ही देखते हैं। वे उद्देश्य स्वभावतः पूँजी के निर्माण, सहकारी व्यवस्था और नये उद्योगों के साथ आज की परिस्थितियों के अनुरूप

उद्योग-धंधों के सामंजस्य पर जोर देते हैं। उनके अनुसार स्वदेशी आंदोलन की सफलता के लिए उत्पादन बढ़ाना और नये पुराने उद्योगों का विकास आधारभूत आवश्यकता है। निस्संदेह भारतीय राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए आर्थिक पक्ष बहुत महत्वपूर्ण है। एक स्वस्थ और सशक्त राष्ट्रीय जीवन जो किसी भी देश-समाज के ऐतिहासिक दबावों से उद्भूत हुआ हो, सुदृढ़ आर्थिक स्थिति के बिना संभव ही नहीं है। जैसे एक परिपूर्ण और समग्र जीवन के लिए शरीर का स्वस्थ और शक्तिशाली होना आवश्यक है, उसी प्रकार समग्र और सशक्त राष्ट्रीय जीवन के लिए राजनीति की काया में समर्थ आर्थिक बल होना आवश्यक है।”

“लेकिन जब हम इस आंदोलन के आर्थिक पक्ष को ही सब कुछ मान लेते हैं, तो राष्ट्र के रूप में हमारी जो नियति है, और उसे प्राप्त करने के लिए हमारे जो कार्यक्रम हैं, उनसे अपने को विचलित करते हैं। हमारा विरोध उन विदेशी ताकतों से और उनकी समर्थित विदेशी पूंजी से है, जो इस देश की संपदा का दोहन करती है। लेकिन यह विरोध सिर्फ इसलिए नहीं है कि हमारा लक्ष्य अपने देश में महज़ साधन-सुविधाओं का विस्तार करना भर है। बल्कि मुख्य रूप से इसलिए है कि वह हमें अपनी नियति को प्राप्त करने की दिशा में एक पड़ाव है। दुनिया के तमाम देशों ने अपने लिए धन-संपदा अर्जित की है। भारत जब स्वतंत्र और स्वाभाविक स्थिति में था, तब वह एकमात्र ऐसा देश था, जिसने अपने लिए नहीं बल्कि ‘आत्म’ के लिए वैभव का अर्जन किया। अगर आज हम अपनी ईश्वर-प्रदत्त नियति का त्याग करें और अन्धी औद्योगिक दौड़ में शामिल हों तो यह आत्मघाती भी होगा। हमें अपने आर्थिक जीवन का ढांचा उच्च आध्यात्मिक आधार पर तैयार करना है, शरीर को उसकी आवश्यकताओं और उमंगों को आत्मा के लिए सहायक बनाना है। इसलिए श्रम और पूंजी, निजी संपदा और सामाजिक न्याय के बीच उच्च आत्मिक मूल्यों के आधार पर सेतु निर्मित करना है। न केवल अपने लिए बल्कि अपने-अपने युग के लिए, पूरी मानवता के लिए यह निर्माण करना है।”

“वर्तमान सामाजिक आर्थिक ढांचे का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसमें समाज की संपदा थोड़े से हाथों में ही सिमटी रहती है और अधिसंख्य लोग अपनी गरीबी से दिन-रात लड़ते रहते हैं। उनके पास उच्च आत्मिक जीवन के लिए न साधन होते हैं और न ही ऊर्जा बचती है। भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण का उद्देश्य पूरा नहीं होगा यदि वह विश्व भर में निर्धनता से पीड़ित लोगों के लिए मुक्ति का संदेश नहीं देता।”

स्वदेशी आंदोलन वही सफल माना जाएगा, जो स्वदेश, स्वराष्ट्र, स्वधर्म और स्वभाषा को वरीयता देने की प्रवृत्ति पैदा करे। मनुष्य को मात्र उपभोक्ता और प्रकृति को मात्र भोग्य वस्तु मान कर सुख और समरसता की रचना संभव नहीं है।



इसका प्रमाण है परिवार-नियोजन-कार्यक्रम। हमने निरोध और निरोधक गोलियां थमाकर व्यक्ति को भोग की राह पर चलने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। यदि यम और नियम के महत्त्व को समझाते हुए व्यक्ति को ऊर्ध्वमुखी बनाया होता तो देश का दृश्य ही कुछ और होता। जो यंत्र कामगार हाथों से रोजी छीनते हैं, वे त्याज्य होने चाहिएं, चाहे इसका प्रयोग कोई देसी कम्पनी करे या विदेशी। हमें संघर्ष भारत के आधुनिक मानस से करना होगा। यदि व्यक्ति भ्रष्ट है तो व्यवस्था भी भ्रष्ट होगी ही। स्वदेशी आंदोलन को जन-मानस में यह भावना पैदा करनी होगी कि जीवन का साध्य केवल धन नहीं है, बल्कि जीवन के उदात्त मूल्य हैं जो धन के स्थान पर नैतिकता, ईमानदारी और धर्म को प्रमुखता देते हैं। ऋषि दयानन्द के स्वदेशी जागरण की मूल भावना तभी विजयी होगी और तभी वह सार्थक भी होगी।

२६ मार्च १९६२



“मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यो के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व-सामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात्, जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उनको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्य-रूप धर्म के पृथक् कभी न होवे।”

**-ऋषि दयानन्द: ‘स्व-मन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश’**

“जिस परिस्थिति में मनुष्य की यह परिभाषा की गई है, जब तक उस पृष्ठभूमि को ध्यान में नहीं रखेंगे तब तक इसका पूरा महत्त्व समझ में नहीं आएगा। उस समय अंग्रेजों का राज्य था और सारा देश आत्महीनता के बोध से उस दुर्दमनीय पराधीनता के सामने अपने-आपको विवश अनुभव कर रहा था। उस परिस्थिति में चक्रवर्ती सम्राट् का अन्यायकारी के रूप में उल्लेख करना, और उसके विनाश के लिए मानवता का आह्वान करना — इससे बढ़कर क्रान्ति का उद्घोष और क्या हो सकता है? मनुष्य की इस परिभाषा के एक-एक शब्द को तोलिए, और देखिए कि १८५७ की राज्यक्रान्ति के नेता भी इससे बढ़कर क्या कोई प्रेरणा भारतवासियों को दे सकते थे? राष्ट्रचेतना का इतना उग्र रूप सिवाय ऋषि दयानन्द के और कहाँ मिलेगा?”

**-‘चयनिका’, पृष्ठ २६५**

